

भ्रम

भाग - 8

मनुष्य की अनेक दीर्घ भ्रम-प्रवृत्तियों में से जीवन व मृत्यु के विषय में भी एक दीर्घ 'भ्रम' प्रवृत्त है, जिस के विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है।

'जीवन' — हरकत है । 'मौत' — स्थिरता है ।

जब तक हमारा शरीर हरकत करता है, तब तक हम शरीर को 'जीवित' कहते हैं । जब शरीर की हरकत बन्द हो जाये, तब शरीर की 'मौत' कही जाती है ।

जन्म-जन्मान्तरों से हमारे मन, बुद्धि, चित्त, अन्तःकरण में इसी स्थूल रूप दृश्यमान 'शरीर' का संकल्प अथवा ज्ञान दृढ़ होता रहा है, जिस कारण 'जीवन' तथा 'मौत' शब्दों को, शारीरिक हरकत के होने तथा न होने तक सीमित किया हुआ है ।

वास्तव में हमारा 'शरीर' तथा समस्त सृष्टि पाँच तत्वों — 'अग्नि', 'जल', 'वायु', 'धरती' तथा 'आकाश' के प्राकृतिक तत्वों के रंग, रूप, आकार, प्रकार तथा इन के मिश्रण व संयोग अथवा संग्रह से बना है । जब शरीर में से 'ज्योति' स्वरूप आत्मिक 'तत्व' निकल जाता है, तब 'शारीरिक तत्व' भी विखंडित हो कर अपने अपने मूल तत्वों में विलीन हो जाते हैं ।

पंच ततु करि तुधु स्सिसटि सभ साजी

कोई छेवा करिउ जे किछु कीता होवै ॥

(पृ ७३६)

संजोगु विजोगु धुरहु ही हूआ ॥

पंच धातु करि पुतला कीआ ॥

साहै कै फुरमाइअडै जी देही विचि जीउ आइ पइआ ॥

(पृ १००७)

उदाहरण के रूप में समस्त वनस्पति भी इन प्राकृतिक 'तत्वों' के संग्रह या संयोग से अस्तित्व में आयी है । जब लकड़ी को जला दिया जाये, तब इस के मूल 'तत्व' — कार्बन (carbon) हाईड्रोजन (hydrogen) तथा आक्सीजन

(oxygen), अपने-अपने निजी तत्वों में विलीन हो जाते हैं ।

इस प्रकार किसी भी 'हस्ती' अथवा 'शरीर' का 'अन्त' या 'मौत' नहीं होती — बल्कि उस के समस्त 'तत्व' या 'अंग' अपने-अपने 'स्रोत' अथवा 'पैतृक-तत्वों' में पुनः विलीन हो जाते हैं ।

यह प्राकृतिक 'तत्व' — अकाल पुरुष के कवाओ द्वारा रचित 'प्रकृति' के आवश्यक तथा अभिन्न 'अंग' हैं — जो ईश्वरीय 'हुकुम' अनुसार एकत्रित होकर प्रकृति के भाँति-भाँति के 'शरीर' या हस्तियों में प्रकट तथा प्रवृत्त होते रहते हैं ।

इसलिए 'शरीर' के 'हरकत हीन' होकर इस के तत्वों के विखण्डित होने को 'मौत' कहना ही हमारा मानसिक भ्रम है ।

देही माटी बोलै पउणु ॥ बुझु रे गिआनी मूआ है कउणु ॥

हउ न मूआ मेरी मुई बलाइ ॥ ओहु न मूआ जो रहिआ समाइ ॥

कहु नानक गुरि बहमु दिखाइआ ॥

मरता जाता नदरि न आइआ ॥ (पृ १५२)

देही अंदरि नामु निवासी ॥ आपे करता है अबिनासी ॥

ना जीउ मरै न मारिआ जाई करि देखै सबदि रजाई हे ॥ (पृ १०२६)

ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दुहाई ॥ (पृ ६९५)

इन्सान का अस्तित्व केवल उसके स्थूल शरीर पर ही निर्भर नहीं, अपितु इस शरीर को हरकत देने वाली शक्ति, 'जीवन रौं' अथवा ईश्वरीय ज्योति है ।

जिस प्रकार 'बल्ब' (bulb) में बिजली का करंट प्रवेश हो जाए, तो वह प्रकाशमान हो जाता है अथवा 'जीवित' हो जाता है । जब 'बिजली' बंद कर दें, तो बल्ब बुझ जाता है अथवा मुर्दा हो जाता है ।

यह 'बिजली का करंट' — किसी 'बिजली घर' (power house) से आता है ।

इसी प्रकार इन्सान की 'जीवन-रौं' — हमारी अंतर-आत्मा से आती है । यह 'दिव्य करंट' अथवा 'नाम' या 'शब्द-रूप' 'जीवन रौं' प्रकृति के हर अंग, अथवा कण-कण में अपार, निरन्तर तथा इकसार चल रही है। यह न कभी बदलती है तथा न ही बढती या घटती है ।

सरब जोति तेरी पसरि रही ॥

जह जह देखा तह नरहरी ॥

(पृ ८७६)

सु सबद कउ निरंतरि वासु अलखं जह देखा तह सोई ॥

(पृ ९४४)

जिमी जमान के बिखै समसति एक जोत है ॥

न घाट है न बाढ है न घाटि बाढि होत है ॥

(अकाल उसतति पा: १०)

यह 'जीवन रौं' अथवा 'नाम' या 'शब्द' ही संसार के कण-कण में
सूत की भाँति पिरोया हुआ है ।

सगल समग्री जा कै सूति परोई ॥

घट घट अंतरि रविआ सोई ॥

(पृ ३८७)

सगल समग्री तुमरै सूत्रि धारी ॥

(पृ २६८)

परन्तु अपनी अज्ञानता के भ्रम-भुलाव में 'जीव' — इस मूल आत्मिक
'जीवनदान' देने वाली ज्योति स्वरूप 'जीवन-रौं' से —

अज्ञान

बेक्बर

अनभिज्ञ

लापरवाह

बे-परवाह

तथा 'भूल' में है ।

यह अज्ञानता भरी 'भूल' ही हमारा दीर्घ मानसिक भ्रम-भुलाव है ।

पहले बताया जा चुका है कि जब हमारे शरीर में से 'जीवन-दान' देने वाली
'जीवन रौं' अथवा 'ज्योति' निकल जाती है, तथा 'शरीर के प्राकृतिक
तत्त्व' भी अपने पैतृक-तत्त्वों में पुनः समा जाते हैं, तब हमारी मानसिक तथा
शारीरिक 'मौत' कहलाती है । परन्तु वास्तव में गौर से विचार करें, तो पता
लगेगा कि कोई भी 'वस्तु' नष्ट नहीं हुई अथवा किसी की 'मौत' नहीं हुई ।

पवनै महि पवनु समाइआ ॥ जोती महि जोति रलि जाइआ ॥

माटी माटी होई एक ॥ रोवनहारे की कवन टेक ॥....

इहु तउ रचनु रचिआ करतारि ॥ आवत जावत हुकमि अपारि ॥
 नह को मूआ न मरणै जोगु ॥ नह बिनसै अबिनासी होगु ॥
 जो इहु जाणहु सो इहु नाहि ॥ जानणहारे कउ बलि जाउ ॥
 कहु नानक गुरि भरमु चुकाइआ ॥
 न कोई मरै न आवै जाइआ ॥ (पृ ८८५)

आत्मिक 'तत्त्व', अपनी केन्द्रीय ज्योति' अथवा परमात्मा में विलीन हो गया तथा प्राकृतिक 'तत्त्व' अपने अपने पैतृक 'तत्त्वों' में विलीन हो गये ।

इस लिए 'मौत' को 'हऊवा' समझ कर डरना तथा 'जीव' के पुनः अपने निजी तत्त्वों में 'विलीन' होने को 'तबाही या खत्म हुआ' समझना ही हमारा दीर्घ मानसिक भ्रम-भुलाव है ।

नह किछु जनमै नह किछु मरै ॥
 आपन चलितु आप ही करै ॥ (पृ. २८१)

आवन जानु इकु खेलु बनाइआ ॥
 आगिआकारी कीनी माइआ ॥ (पृ. २९४)

तथा इस 'भ्रम-भुलाव' के कारण, किसी की 'मौत' पर रोना, चिल्लाना, शोक करना, व्याकूल होना या सदमें में दुःखी होना, ईश्वरीय 'हुकुम' के 'खेल' से 'विमुख' होना है तथा यही हमारा दीर्घ मानसिक भ्रम-भुलाव है ।

अगली किछु खबरि न पाई ॥ रोवनहारु भि ऊठि सिधाई ॥
 भरम मोह के बांधे बंध ॥ सुपनु भइआ भखलाए अंध ॥ (पृ ८८५)

ईश्वरीय हुकुम अनुसार प्रकृति में प्रत्येक वस्तु —

जो बनी है	—	वह टूटनी है
जो उत्पन्न हुई है	—	वह नष्ट होनी है
जो रची गई है	—	वह नाश होनी है
जो आयी है	—	वह जानी है
जो जीवित है	—	वह मरनी है

इसलिए जो क्रिया ईश्वर के 'हुकुम' में अवश्य होनी है — टल नहीं सकती, उस से 'भय-भीत' होना तथा उस को टालने की कोशिश करना या उस के विषय में चिन्ता तथा कल्पना द्वारा दुःखी होना, हमारी मानसिक अज्ञानता का दीर्घ 'भ्रम-भुलाव' ही है ।

जो आइआ सो चलसी सभु कोई आई वारीए ॥ (पृ ४७४)

चिंता ता की कीजीए जो अनहोनी होइ ॥

इहु मारगु संसार को नानक थिरु नही कोइ ॥ (पृ १४२९)

उपरोक्त विचार से सिद्ध हुआ है कि प्रकृति की कोई भी वस्तु स्वत्म नहीं होती या मरती नहीं, क्योंकि 'तत्त्व' तो उसी प्रकार 'रवि रहे परिपूर्ण' हैं ।

बाहरी रूपों के बदलाव को हम 'मृत्यु' या 'मौत' समझे हुए हैं । यह भी हमारा मानसिक — भ्रम-भुलाव है ।

यदि हम एक 'घर' को छोड़ कर दूसरे 'घर' में जा बसें, तो बदली से भय भीत नहीं होते, न ही इस 'बदली' के विषय में इतना शोक-संताप, हाय-तौबा तथा विलाप करते हैं । अपितु खुशी-खुशी 'नये घर' को सजाते हैं तथा प्रसन्न होते हैं ।

परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि जब 'जीव' — किसी नयी 'देह' में बसने के लिए, पुरानी देह का त्याग करता है, तब इसे मौत कह कर —

भय-भीत होते हैं ।

शोक करते हैं ।

विलाप करते हैं ।

धार्मिक कर्म-क्रिया करते हैं

सामाजिक रीति रिवाज करते हैं

अत्यंत स्वर्चा करते हैं

जीवन को कष्टमय बनाते हैं

घर को नरकमय बना देते हैं

सूतक आदि भ्रम भी करते हैं

इस प्रकार परिवारों में कई सप्ताह अथवा कई महीनों तक 'मातम मनाने' का शोक मयी वातावरण बना रहता है । फिर कहीं कुछ समय के लिए सामान्य

दशा होती है, तभी अचानक कोई और 'मौत' हो जाए तो फिर वही दुःखदायी 'शोकमयी' चक्र चल पड़ता है !!

जब हमारे कपड़े 'फट' जाते हैं, तब हम उन्हें उतार कर फेंक देते हैं तथा नये कपड़े पहन लेते हैं। यदि कपड़ों के 'बदलने' को हम 'साधारण' क्रिया समझते हैं तथा उसका कोई शोक या मातम नहीं करते, तब 'जीव' के पुरानी 'देह' त्यागने पर इतना शोक संताप करना, हमारी मानसिक भूल है तथा हमारा गंभीर भ्रम-भुलाव है।

इस भ्रम-भुलाव का हमारे जीवन पर अत्यन्त गम्भीर, गहरा तथा दुःखदायी प्रभाव पड़ता है।

उदाहरण स्वरूप, यदि किसी स्त्री को पति की मृत्यु हो जाये तब उसे सारी उम्र 'विधवा' का कलंक लग जाता है। कई धर्मों में उन को सिर 'मूँड' दिए जाते हैं, तथा उन की सामान्य मानसिक इच्छाओं तथा भावनाओं को निर्दयता से कुचला जाता है, तथा उन का जीवन 'नरक मय' बना दिया जाता है।

इस प्रकार पुराने शरीर को त्याग कर, नये शरीर में प्रवेश होने की प्राकृतिक परिवर्तन को 'मौत' का 'हऊवा' बना कर जीव पर अनेक अकथनीय तथा असहनीय जुल्म किये जाते हैं।

यह मौत का स्वयं निर्मित 'हऊवा' : —

धर्म की मर्यादा

सामाजिक रीति

साम्प्रदायिक रिवाज

पैतृक परम्परा

की 'आड़' में, बीसवीं सदी में भी, प्रवृत्त तथा प्रचलित हैं !!

आश्चर्य की बात तो यह है कि हमारी : —

नवीन विद्या

नवीन विज्ञान

नवीन सभ्यता

अनेक धर्मों

अनेक धर्म ग्रन्थों

अत्यंत धर्म प्रचार
धार्मिक कर्म-क्रिया
अनेक समाज सुधार संस्थाओं

के बावजूद भी, हम —

पुराने

फोकट

कूड़

वहशी

हानिकारक

निर्दयी

दुखदायी —

ख्यालों

धारणाओं

वहमों

रीति-रिवाजों

में जकड़े हुए हैं या जान-बूझ कर इन्हें छोड़ने के लिए तैयार ही नहीं हैं !!

ये प्राकृतिक 'तत्त्व' स्वै-प्रकाशमान नहीं हैं । अकाल पुरुष ने मायिकी 'विराट नाटक' की रचना के लिए ये 'तत्त्व' बनाये हैं — जो ईश्वरीय 'हुकुम' अनुसार मायिकी ड्रामे को चलाने के लिए अनेक रंगों, रूपों, आकारों, वेषों में प्रयोग किये जाते हैं, तथा नियत ड्रामे का खेल सम्पन्न होने पर, पुनः अपने वास्तविक 'तत्त्वों' में विलीन हो जाते हैं ।

तिसु भावै ता करे बिसथारु ॥ तिसु भावै ता एकंकारु ॥

आगिआ आवै आगिआ जाइ ॥

नानक जा भावै ता लए समाइ ॥

(पृ २९४)

आपि उपाए आपि समाए हुकमी हुकमु पछाणा ॥

(पृ ६८८)

साचा सचु सोई अवरु न कोई ॥

जिनि सिरजी तिन ही फुनि गोई ॥

(पृ १०२०)

जब उदकरख करा करतारा ॥ प्रजा धरत तब देह अपारा ॥

जब आकरख करत हो कबहूं ॥ तुम मै मिलत देह धर सबहूं ॥

(चोपई पा. १०)

ये प्रकृतिक 'तत्त्व' — त्रि-गुणी मायिकी मंडल की प्रकृति के अंग हैं तथा इन की प्रवृत्ति भी मायिकी मंडल तक 'सीमित' है, 'आध्यात्मिक मंडल' में इन की 'पहुँच' नहीं है ।

यह 'मौत' का 'ड्रामा', त्रि-गुणी मायिकी मंडल में, हमारी बुद्धि की अज्ञानता का प्रतिबिम्ब है ।

कहत नानकु मारि जीवाले सोइ ॥

ऐसा बूझहु भरमि न भूलहु कोइ ॥ (पृ ११२८)

परन्तु आत्मा के चारों ओर 'अहम् मयी' गिलाफ — अथवा 'जीव' के अन्तःकरण की रंगत अनुसार, पिछले कर्मों के लेख का निपटारा करने के लिए 'जीव' को नया शरीर धारण करना पड़ता है । यह जीव का 'आवागमन' अथवा 'जन्म-मरण', तब तक चलता रहता है, जब तक गुरुप्रसाद द्वारा, अन्तर-आत्मा में — 'नाम' का प्रकाश नहीं होता तथा 'अहम्' का 'अभाव' नहीं होता ।

इस लिए शरीर के नाश होने को शरीर की 'मौत' तथा 'जीवन' का 'अन्त' समझना ही, हमारा मानसिक भ्रम-भुलाव है ।

दूसरी ओर आध्यात्मिक मंडल के 'जीवन' के विषय में हमारा भ्रम और भी सूक्ष्म तथा गंभीर है ।

बल्ब का अस्तित्व — उसमें 'बिजली के करंट' पर निर्भर है । या यूँ कहो कि बिजली का करंट ही 'बल्ब' का 'जीवन' है । यदि यह 'जीवन-रों' निकल जाये, तब बल्ब मुर्दा हो जाता है ।

इस प्रकार समस्त जीवों में ईश्वरीय ज्योति का करंट 'रवि रहिआ परिपूर्ण' है । जब 'जीव' में से यह 'शब्द' की जीवन-रों अथवा 'ज्योति' निकल जाये, तब 'पाँच तत्त्वों का पुतला' शरीर, 'मुर्दा' हो जाता है ।

इसलिए यह ईश्वरीय 'जीवन-रों' अथवा 'शब्द' या 'नाम' ही जीवन है । इसी 'शब्द' की 'जीवन-रों' द्वारा समस्त सृष्टि कायम-दायम है ।

नाम के धारे सगले जंत ॥ नाम के धारे खंड ब्रहमंड ॥.....

नाम के धारे आगास पाताल ॥ नाम के धारे सगल आकार ॥

नाम के धारे पूरीआ सभ भवन ॥

(पृ २८४)

सरब जोति महि जा की जोति ॥

धारि रहिओ सुआमी ओति पोति ॥

(पृ २९४)

परन्तु हम 'अहम्' की अज्ञानता में अपनी 'जीवन-रूप' ईश्वरीय 'ज्योति' अथवा 'शब्द' या 'नाम' को 'भूल' गये हैं। अपने आप को 'स्व-प्रकाशमान' तथा 'स्व-शक्तिमान' समझे हुए हैं, भले-भद्र, अफलातून बन कर अकड़े रहते हैं तथा डींगें हाँकते रहते हैं।

यही हमारे अहम् की ढीठता है तथा मूल भ्रम-भुलाव है।

इसी 'भ्रम-भुलाव' की अज्ञानता में ही हम —

सोचते हैं

चिंतन करते हैं

योजनाएं बनाते हैं

कर्म करते हैं

मोह माया में फँसते हैं

वाद-विवाद करते हैं

पाँच वासनाओं की गुलामी करते हैं

मानव जन्म व्यर्थ खो देते हैं

यम के वश पड़ते हैं

तथा अपने 'अहम् अधीन', कर्मों के 'परिणाम' भोगते हैं।

हम कीआ हम करहगे हम मूरख गावार ॥

करणै वाला विसरिआ दूजै भाइ पिआरु ॥

(पृ ३९)

हउ हउ करते करम रत ता को भारु अफार ॥

प्रीति नही जउ नाम सिउ तउ एऊ करम बिकार ॥ (पृ. २५२)

हउमै करम कमावदे जमडंडु लगै तिन आइ ॥ (पृ. ६५)

हउमै करम कमावदे मनमुखि मिलै सजाइ ॥ (पृ. १६२)

जिस प्रकार पहले बताया जा चुका है कि 'जीवन' — 'रवानगी' तथा 'हरकत' है।

यह 'रवानगी' — 'शब्द' अथवा 'नाम-प्रकाश' की अटूट, असीम, निरंतर, त्रुटि रहित, अपार, गुप्त 'चाल' या लगातार 'हरकत' है — जो सृष्टि के कण-कण में रवि-रही परिपूर्ण है।

शब्द की जीवन रों की रवानगी को ही 'जीवन' कहा जाता है । यह दैवीय जीवन आदि से ही 'रवि-रहिआ-परिपूर्ण' है तथा रहेगा । इस में कभी 'विघ्न' अथवा उतार-चढ़ाव नहीं हो सकता, क्योंकि यह 'शब्द-रूपी' 'जीवन-रों' अकाल पुरुष का अपना 'प्रकाश' है ।

परन्तु हमारा 'बाहर मुख मन', मायिकी भ्रम-भुलाव में गलतान रहता है तथा अपने अन्दरूनी आत्मिक 'जीवन-रों' अथवा 'शब्द' या 'नाम' से बेखबर तथा अनजान है । इस प्रकार, 'जीव' अपनी ईश्वरीय 'जीवन-रों' के समस्त दैवीय गुणों से वंचित रहता है ।

ऐसे अटूट, असीम, लगातार, निरंतर दैवीय 'जीवन' को — शरीरों की 'मौत' से जोड़ना तथा 'सीमित' रखना, हमारी मानसिक अज्ञानता का दीर्घ भ्रम-भुलाव है ।

मरणै ते जगत्तु डरै जीविआ लोडै सभु कोइ ॥

गुर परसादी जीवतु मरै हुकमै बूझै सोइ ॥

नानक ऐसी मरनी जो मरै ता सद जीवणु होइ ॥ (पृ ५५५)

गुरमुखि होवै सु सुखु कमाए ॥ मरण जीवण की सोझी पाए ॥

मरणु जीवणु जो सम करि जाणै सो मेरे प्रभ भाइदा ॥

(पृ १०५९)

चौरासी लाख योनियाँ भी इसी भ्रम-भुलाव में विचरण करती हैं, परन्तु इस में उनका कोई दोष नहीं — क्योंकि उनको भगवान ने ऐसी बुद्धि ही नहीं प्रदान की जिससे वे अपने भ्रमों का 'निर्णय' कर सकें ।

परन्तु मनुष्य को अकाल पुरुष ने अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि दी है — जिस से वे महापुरुषों की संगत तथा अनुभवी ज्ञान द्वारा, अपने भ्रम-भुलाव का 'निर्णय' कर सकता है ।

परन्तु हमारी तीक्ष्ण बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान तथा कर्म-धर्म के बावजूद, हम अपनी 'भ्रान्तियों' का 'निवारण' नहीं कर सके, तथा इस 'मानसिक भ्रम' के 'अन्ध गुबार' में से निकलने का ख्याल ही नहीं आया, अपितु पुराने 'मानसिक-प्रवाह' अनुसार, अपनी 'भ्रान्तियों' का नित्यप्रति अभ्यास करके, इन्हें और दृढ़ कर रहे हैं तथा दुखी हो रहे हैं ।

करम धरम जुगता निमख न हेतु करता

गरबि गरबि पडै कही न लेखै ॥

जिसु भेटीऐ सफल मूरति करै सदा कीरति ॥

गुर परसादि कोऊ नेत्रहु पेखै ॥

(पृ ६८७)

आन उपाव सगर कीए नहि दूख साकहि लाहि ॥

भजु सरनि साधू नानका मिलु गुन गोबिंदहि गाहि ॥

(पृ १२७२)

जब हम एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर सफर करते हैं, तब रास्ते में अनेक नवीन चीजें देखने में आती हैं तथा भाँति-भाँति के 'दृश्य' दिखाई देते हैं तथा कई प्रकार के 'जीवन-अनुभव' होते हैं ।

ठीक इसी प्रकार, जब जिज्ञासु की 'सुरति' अन्तर्मुख होकर सिमरन द्वारा, अनदेखी आत्मिक दुनिया की ओर यात्रा करती है, तब सुरति में भाँति-भाँति के 'दृश्य' दिखाई देते हैं तथा अलौकिक मानसिक व अध्यात्मिक 'अनुभव' होते हैं ।

जिस प्रकार —

अनोखे प्रकार का कौंध पड़ना,
गुरुओं, महापुरुषों के दर्शनों की झलक पड़ना,
गुरुधामों के दर्शन होना,
अनोखे दृश्य दिखने,
अत्यन्त डरावने दृष्टान्त देखने,
आध्यात्मिक मंडल के अलौकिक 'दृश्य' देखने,
रिद्धियाँ सिद्धियाँ प्राप्त होनी,
'वाक्-सिद्धि' प्राप्त होनी,
भूत-भविष्य का ज्ञान होना,
अथाह शक्ति प्राप्त होनी,
आश्चर्यजनक तथा अनोखे आध्यात्मिक अनुभव होने,
गुप्त रूहों के दर्शन होने,
'रुनझुन' या थरथराहट महसूस करना,
अनहोनी शारीरिक हरकतें होनी,
गुप्त आवाजें सुननी ।

'मायिकी मंडल' से आत्मिक देश तक सुरति का मार्ग बहुत लम्बा, विकट तथा गुह्यलदार है तथा कई मानसिक व अध्यात्मिक पतौ अथवा सतहों (planes) के बीच से गुजरना पड़ता है । इस लम्बे तथा कठिन 'सफर' में अनेक प्रकार के अनुभव होने स्वभाविक या अनिवार्य हैं ।

परन्तु इन मानसिक 'चमत्कारों' तथा 'दर्शनों' से हमारे दैनिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता तथा उसी प्रकार अपने पुराने मायिकी 'जीवन-प्रवाह' में बहे जाते हैं तथा हमारे सम्पूर्ण जीवन में कोई आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं आता ।

उपरोक्त विचार से स्पष्ट है कि यह तथाकथित, क्षण भंगुर, मानसिक 'चमत्कार', 'झलकें', 'दर्शन' या 'अनुभव' हमारे मनोकल्पित अथवा सवै-प्रेरित ख्यालों तथा धारणाओं (auto suggestions) अथवा पूर्व कर्मों के प्रभाव के 'प्रतिबिम्ब' ही होते हैं ।

इन मानसिक प्रतिबिम्बों (reflections) को असली 'आत्मिक-करिश्में' समझकर 'महत्त्व देना' तथा इनको आत्मिक प्राप्तियाँ समझना, इन में संतुष्ट होना, धमण्ड करना, तथा इनके कारण भले-भद्र बनना एक सबल 'भ्रम-भुलाव' है ।

इस प्रकार जिज्ञासु की आत्मिक उन्नति रुक जाती है तथा उसकी सुरति का विकास रुक जाता है । उसमें विघ्न पड़ जाता है, कुछ समय उपरान्त वह अवनति की ओर बहने लगता है, साथ ही उसके मानसिक तथा धार्मिक जीवन में गिरावट आ जाती है ।

गुरबाणी में ऐसे 'भूले हुए' जिज्ञासु के विषय में यँ वर्णन किया है ।

मिलिआ होइ न वीछुड़े जे मिलिआ होई ॥ (पृ ७२९)

मिलिआ कदे न वीछुड़ै जोति जोति मिलावै ॥ (पृ १२४७)

मिलिए मिलिआ ना मिलै मिलै मिलिआ जे होइ ॥

अंतर आतमै जो मिलै मिलिआ कहीऐ सोइ ॥ (पृ ७९१)

साध-संगति में विचरण करते हुए अटूट अन्तर्मुख सिमरन अथवा 'शब्द' के अभ्यास द्वारा जो अन्तर-आत्मिक 'अनुभव' होते हैं, वे अत्यन्त विलक्षण, विस्माद पूर्ण व आश्चर्यजनक होते हैं, जिन्हें गुरबाणी में यँ दर्शाया गया है :—

लोइण देखि रहे बिसमादी चित्तु अदिसटि लगाई ॥ (पृ ९१०)

हरि का मंदरु तिसु महि लालु ॥

गुरि खोलिआ पड़दा देखि भई निहालु ॥ (पृ ८०१)

देखिओ अचरजु महा मंगल रूप किछु आन नही दिसटावै ॥ (पृ ९७८)

दरसन देखि सीतल मन भए ॥

जन्म जन्म के किलबिरव गए ॥

(पृ २०२)

माई री पेरि रही बिसमाद ॥

अनहद धुनी मेरा मनु मोहिओ अचरज ता के स्वाद ॥

(पृ १२२६)

दरसन देखत ही सुधि की न सुधि रही

बुधि की न बुधि रही मति मै न मति है ।

सुरति मै न सुरति औ धिआन मै न धिआन रहिओ

गिआन मै न गिआन रहिओ गति मै न गति है ।

धीरज को धीरजु गरब को गरबु गइओ

रति मै रति रही पति रति पति है ।

अदभुद परमदभत बिसमै बिसम

असचरजै असचरज अति अति है ।

(क. भा. गु. ९)

जन्म-जन्मांतरों से हमारी **सुरति-वृत्ति का अभ्यास बाहरमुख होने के कारण**, हम अकाल पुरुष अथवा गुरूओं, अवतारों तथा उन के आत्मिक कौतुकों को अपनी **मायिकी 'आँखों' से ही देखने की 'याचना' करते हैं ।**

परन्तु गुरबाणी अनुसार अकाल पुरुष का **'स्वरूप'** — **अदृश्य, अगोचर, आत्म प्रकाश का 'तत्-स्वरूप' है, तथा उसके 'दर्शन' भी 'तत् स्वरूपी' 'शब्द' अथवा 'नाम' द्वारा ही 'अनुभव' हो सकते हैं ।** तभी गुरबाणी में 'डिठै मुक्ति न होवई जिचरु सबदि न करे वीचार' तथा 'अद्रिसट अगोचरु पकड़िआ गुर सबदी का उपदेश दूढ़ कराया गया है ।

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि अन्तर्मुख **'शब्द' की 'विचार', 'कर्माई' अथवा 'नाम सिमरन' के बिना** अकाल पुरुष अथवा सतिगुरु के सच्चे **'प्रकाशमय' — 'तत्-स्वरूप' के दर्शन की अभिलाषा रखनी** हमारा बहुत बड़ा **मानसिक भ्रम-भुलाव है ।**

हम **'दर्शनों'** को केवल आँखों से देखने की क्रिया ही समझते हैं — परन्तु वास्तव में दर्शन — **'शब्द' के पीछे अति गहरी तथा रहस्यमयी भावनाएँ छुपी हुई होती हैं ।**

जब हम किसी के **'दर्शन'** करते हैं, तब उसके बाहरी शारीरिक स्वरूप को ही देखते तथा पहचानते हैं । परन्तु जिसके हम **'दर्शन'** करते हैं, वह मात्र **बाहरी वृक्ष्यमान 'शरीर' ही नहीं — अपितु उसके शारीरिक स्वरूप के पीछे, उस**

के मन, बुद्धि, अन्तःकरण, 'आत्मा' तथा इन की रहस्यमयी 'भावनाएँ' भी छुपी होती हैं ।

जिस प्रकार 'फूल' के दूर से स्थूल दर्शन करने पर उसके समस्त आन्तरिक गुण — सौन्दर्य, कोमलता, सुगन्धि आदि से वंचित रहते हैं । 'फूल' के इन गुणों से लाभ उठाने के लिए, फूल को 'परसना' पड़ेगा । फूल के 'सम्पूर्ण दर्शन' तब ही हो सकते हैं, जब उसके समीप जा कर उसको 'परसें' तथा उसके गुणों अथवा उसकी 'सुन्दरता', कोमलता' तथा 'सुगन्धि' का 'लाभ' उठाये । इस प्रकार 'फूल' के रहस्यमयी गुणों से 'विभोर' होकर 'आनन्द' उठा सकते हैं ।

गुरबाणी में इस विचार की यूँ पुष्टि की गयी है —

दरसन परसन सरसन हरसन रंगि रंगी करतारी रे ॥ (पृ ४०४)

एका खोजै एक प्रीति ॥ दरसन परसन हीत चीति ॥

हरि रंग रंगा सहजि माणु ॥ नानक दास तिसु जन कुरबाणु ॥

(पृ ११८०)

इसलिए केवल मनोकल्पित अथवा शारीरिक दर्शनों से 'सम्पूर्ण दर्शनों' का 'लाभ' नहीं हो सकता, तथा न ही स्थूल स्पर्श अथवा शारीरिक मेल से 'आन्तरिक सम्पूर्ण मेल' हो सकता है । तभी गुरबाणी में डिठै मुकति न होवई जिचरु सबदि न करे वीचारु' का उपदेश दृढ़ कराया गया है ।

ऐसे 'दर्शन' — 'शारीरिक दर्शनों' तक सीमित नहीं, बल्कि इस से परे —

मानसिक 'मिलाप'
 आध्यात्मिक 'मिलाप'
 गुणों की 'साझेदारी'
 रहस्यमयी 'आदान-प्रदान'
 'प्रिम-प्याले' पीने तथा पिलाने
 अन्तर-आत्मिक 'आनन्द'
 आत्म रस में 'विभोर' होना
 'अनहद धुन' से मोहित होना
 'आश्चर्यजनक स्वाद' की मस्ती
 'प्रेम स्वैपना' में तैरना है ।

मिलिए मिलिआ ना मिलै मिलै मिलिआ जे होइ ॥

अंतर आतमै जो मिलै मिलिआ कहीऐ सोइ ॥ (पृ. ७९१)

सबद मिलावा होत है देह मिलावा नाहि ॥ (संत बाणी में से)

इस लिए मात्र बाहरी 'दर्शन' या 'मेल' को सम्पूर्ण तथा 'सफल दर्शन' समझना ही हमारा दीर्घ मानसिक भ्रम-भुलाव है ।

सतिगुरु का दर्शन तो 'आत्म-प्रकाश' अथवा 'ज्योति स्वरूप' है — जो केवल अनुभव द्वारा अन्तर-आत्मा में 'शब्द' या 'नाम' के प्रज्वलित होने से ही हो सकता है ।

अन्तर-आत्मा में सतिगुरु के प्रकाश रूप 'दर्शन' —

देहधारी नहीं

एक देशीय नहीं

'एक जाति' के नहीं

'एक रंग' के नहीं

'एक नाम' के नहीं

'तस्वीर' वाले नहीं

'मूर्ति' वाले नहीं

'सूँड' वाले नहीं

'दस सिर' वाले नहीं

'चार बाँहों' वाले नहीं !!

हाँ जी ! 'ज्योति स्वरूप' दर्शन तो —

सदा अंग संगे

'हाथ पै नरै'

'अंग संग मौला'

'अंग अंग सुखदाई'

'नाल होवंदा'

'लहि न सकंदा'

'छोडि न जाई'

'लाड-लडाउंदा'

‘खेल खिलाउंदा’

‘प्रति-पाले’

नित सार समाले’ है ।

ऐसे सतिगुरु के दर्शन के प्रकाश ने —

‘भ्रम गड़ तोड़िआ’	(‘भ्रम गड़ तोड़ दिया)
‘हरि सिउ जोड़िआ’	(हरि से मिलाप कर दिया)
‘मोह अंधेर चुकाइआ’	(मोह का अंधकार दूर कर दिया)
‘भगति-भंडार बरवसिआ’	(भक्ति भंडार की बरवशिष हुई)
‘महा अग्नि ते राखिआ’	(महा अग्नि से बचा लिया)
‘कैरी मित्र सभ द्विशटि दिखाई	(कैरी-मित्र सम्म हो गए)
‘सूके हरे कीए खिन माहि’	(सूखे हरे हो गए)
‘माणस ते देवते कीए’	(मनुष्य से देवता बना दिया)
‘विचहु मारि कडीआं बुरिआईआं’	(भीतर से बुराई का नाश कर दिया)
‘अबिचल राज बैठाइआ’ है ।	(अबिचल राज्य प्राप्त हुआ अर्थात् स्थिरता प्राप्त हुई)

ऐसे ‘दर्शन’ तो ‘साध संगत’ रूपी ‘संच खंड’ में ही हो सकते हैं ।

साध संगति सचखंड विधि

सतिगुर पुरखु वसै निरंकारा ।

(वा.भागु ६/४)

परन्तु हम अपनी भ्रमित सीमित बुद्धि के मनोकल्पित ख्यालों से — सतिगुरु के असीम-अपार ‘अस्तित्व’ को ‘सीमित’ स्वरूप में देखने की याचना करते हैं ।

इस प्रकार हम सतिगुरु की उसतति की अपेक्षा निन्दा तथा निरादर करते हैं, जो हमारे अहम्ययी ‘मन’ की घोर अज्ञानता, तथा मनमुखताई है ।

इसलिए चित्रकारों की ‘मनोकल्पित’ तस्वीरों तथा स्वयं रचित ‘मूर्तियों’ के आधार पर — सतिगुरु के दर्शन की याचना करनी हमारी मानसिक अज्ञानता का दीर्घ भ्रम-भुलाव ही है ।

(क्रमशः)

J